

# ‘अपने-अपने पिंजरे’ में अभिव्यक्त दलित जीवन का यथार्थ

## सारांश

गाँव हो या शहर स्थानों के नामकरण में भी जातिगत दुर्गन्ध अवश्य आती है। इसका जीता-जागता प्रमाण है कि आज भी ऐसे स्थान हैं जिनसे सहज ही अन्दाजा हो जाता है कि यहां अमुक जाति के लोग निवास करते हैं। जैसे-चमार गेट, जटवाड़ा एवं खटीक वाड़ा आदि। इससे बड़ी मानव जीवन की त्रासदी क्या होगी कि जन्म से लेकर मृत्यु के बाद भी व्यक्ति जातिगत जंजीरों को नहीं तोड़ पाता है। लोग दलितों को गाली भी जाति का नाम लेकर देते हैं। क्या यह किसी सभ्य समाज का स्वरूप हो सकता है? मुसलमान भी दलितों को गुलामों का गुलाम समझते हैं। जब हिन्दू ही दलितों को सदियों से गुलाम बनाते आये हैं तो मुसलमान भी दलितों को उसी नजर से देखते हैं। आज भी सदियों से दलितों की गुलामी की कहानी जिन्दा है। जो सवर्ण विदेशी लोगों की गुलामी से इतनी जल्दी टूटने लगे कि उन्हें अपना जीवन भार लगने लगा। उन्होंने कभी यह महसूस करने की कोशिश की कि उन लोगों की पीड़ा कितनी होगी जो पैदा होते ही जाति एवं गुलामी को उपहार में प्राप्त करते हैं। उनकी कितनी पीढ़ियाँ जमींदारों की भी हजुरी करने में दफन हो जाती हैं। इसके बाद महनताना भी एक अठन्नी ही मिलता है—“बस्ती में कुछ मर्द—औरतें उनके घरों पर लिपाई—पुताई करने भी जाते थे और कुछ पंखा खींचने, सरकारी हाकिमों, जमींदारों, नवाबों के घरों, ऑफिसों में जाकर बेगार करनी पड़ती थी। शुरू-शुरू में मैं माँ के जाता था। बंगलों पर दादी पंखा खींचने जाती थी। बा भी उनके साथ जाता था। सुबह से शाम तक पंखा खींचने की मजदूरी मिलती थी एक अठन्नी। पीढ़ी दर पीढ़ी हम गुलाम थे। इधर माँ बच्चा जनती उधर पैदा होने वाले बच्चे के सिर पर उसकी जात लिख दी जाती। उसे उसकी जात की पहचान से रूबरू—करा दिया जाता।”<sup>3</sup>



## राजमुनि

एसोसिएट प्रोफेसर,  
हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय  
भाषा विभाग,  
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,  
वाराणसी

**मुख्य शब्द** : दलित, अभिव्यक्त, मजदूर

## प्रस्तावना

मेरठ शहर की कर्म भूमि में संघर्षरत मोहनदास नैमिशाराय का जीवन अनेक प्रकार की त्रासदी का गवाह है। यह शहर जहाँ एक ओर सन् 1857 की लड़ाई के लिए जाना जाता है, वहीं दूसरी ओर अपने दामन में अनेक प्रकार की त्रासदी को समेटे हुए है। यहाँ मानवीय संवेदना अपने विभिन्न रूपों में दिखायी देती है। यहाँ सभी प्रकार के लोग अपनी-अपनी दुनियाँ में मस्त हैं। सबके अपने-अपने ढंग के शौक हैं। इस शहर में औरत का वह रूप भी दिखायी देता है जो समस्त मानवता को तार-तार करता है। जिस समाज में औरत को देवी, माँ, बहन व पत्नी के रूप में देखा गया, वहीं वह वेश्यालय में बैठकर चन्द पैसे की खातिर अपना जिस्म दाँव पर लगा रही है। मजदूर, अनपढ़ एवं रिक्शे वालों की बात तो दूर जो बुद्धिजीवी वर्ग है जैसे-वकील, डॉक्टर, प्रोफेसर आदि को इसकी तनिक भी परवाह नहीं कि जिसके जिस्म को हम भोग रहे हैं वह भी एक जीता जागता इंसान है। मोहनदास मेरठ के भूगोल को बताते हुए कहते हैं कि वेश्यावृत्ति यहाँ के शौकों में से एक है—“पूरे शहर में रंडियों के दो ही बाजार थे। बैली बाजार और नील की गली का बाजार। पहला महंगा बाजार, दूसरा सस्ता। नील की गली में रिक्शे वाले, ताँगे वाले, नाई, धोबी, तेली, भड़भूजे खाज वाले कुत्ते की तरह खुजाते-खुजते पहुंच जाते थे और छोटी-छोटी सुरंगों में घुसकर अपनी-अपनी खाज मिटाते थे।”<sup>1</sup>

शहरों की जिन्दगी और गाँव की जिन्दगी का सबसे महत्वपूर्ण अन्तर यही है कि शहर में वेश्यावृत्ति का धंधा खुलेआम सरकारी तंत्र की नाक के नीचे होता है। गाँव में वेश्यावृत्ति जैसी प्रवृत्ति को साँड़ जैसी खुली छूट नहीं है। इन्हीं दुश्प्रवृत्तियों की खातिर सड़क-छाप नीम हकीमों का धंधा भी साथ-साथ पलता-बढ़ता है। ये नीम-हकीम गलियों में अपने-अपने दवाखाने खोलते हैं। मजदूर से लेकर मंत्री अफसर सभी इनकी दवाओं का सेवन पौरुष वृद्धि के लिये

करते हैं। मोहनदास कहते हैं कि समाज की इस त्रासदी को बढ़ाने में किस प्रकार बड़े लोगों का हाथ है—“ वे हकीम ऐयार भी थे और ऐयाश भी। अपनी बनाई हुई दवा खुद भी चाटते थे और अन्य जमींदारों, हाजियों, नवाबों, नेताओं, सांसदों, विधायकों, मंत्रियों—सन्त्रियों को भी चटाते थे। उनके दवाखानों में भूमिगत कमरे थे, जो किसी रंग महल से कम न होते थे।”<sup>2</sup> इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि समाज को तहस-नहस करने में जमींदारों एवं मंत्रियों का पूरा सहज है। भोग-बिलास के जो साधन सम्पन्न लोगों द्वारा पैदा किये जाते हैं उनका सीधा असर सामान्य जन-जीवन पर भी अवश्य पड़ता है।

गाँव हो या शहर स्थानों के नामकरण में भी जातिगत दुर्गन्ध अवश्य आती है। इसका जीता-जागता प्रमाण है कि आज भी ऐसे स्थान हैं जिनसे सहज ही अन्दाजा हो जाता है कि यहां अमुक जाति के लोग निवास करते हैं। जैसे—चमार गेट, जटवाड़ा एवं खटीक वाड़ा आदि। इससे बड़ी मानव जीवन की त्रासदी क्या होगी कि जन्म से लेकर मृत्यु के बाद भी व्यक्ति जातिगत जंजीरों को नहीं तोड़ पाता है। लोग दलितों को गाली भी जाति का नाम लेकर देते हैं। क्या यह किसी सभ्य समाज का स्वरूप हो सकता है? मुसलमान भी दलितों को गुलामों का गुलाम समझते हैं। जब हिन्दू ही दलितों को सदियों से गुलाम बनाते आये हैं तो मुसलमान भी दलितों को उसी नजर से देखते हैं। आज भी सदियों से दलितों की गुलामी की कहानी जिन्दा है। जो सवर्ण विदेशी लोगों की गुलामी से इतनी जल्दी टूटने लगे कि उन्हें अपना जीवन भार लगने लगा। उन्होंने कभी यह महसूस करने की कोशिश की कि उन लोगों की पीड़ा कितनी होगी जो पैदा होते ही जाति एवं गुलामी को उपहार में प्राप्त करते हैं। उनकी कितनी पीढ़ियाँ जमींदारों की भी हजरी करने में दफन हो जाती हैं। इसके बाद महनताना भी एक अठन्नी ही मिलता है—“बस्ती में कुछ मर्द—औरतें उनके घरों पर लिपाई—पुताई करने भी जाते थे और कुछ पंखा खींचने, सरकारी हाकिमों, जमींदारों, नवाबों के घरों, ऑफिसों में जाकर बेगार करनी पड़ती थी। शुरु—शुरु में मैं माँ के जाता था। बंगलों पर दादी पंखा खींचने जाती थी। बा भी उनके साथ जाता था। सुबह से शाम तक पंखा खींचने की मजदूरी मिलती थी एक अठन्नी। पीढ़ी दर पीढ़ी हम गुलाम थे। इधर माँ बच्चा जनती उधर पैदा होने वाले बच्चे के सिर पर उसकी जात लिख दी जाती। उसे उसकी जात की पहचान से रूबरू—करा दिया जाता।”<sup>3</sup>

गुलामी की मार से जो घायल हैं, वही समझ सकता है कि गुलामी कितनी भयानक चीज है। यह सोलह आने सच है कि जिनकी आत्मा और शरीर ने कभी गुलामी की मार नहीं खायी, कभी अपनी आँखों के सामने अपने बुजुर्गों का अपमान न सहा हो, वह क्या जाने कि गुलामी की चोट कितनी गहरी होती है। यह वह चोट है जो पड़ती है एक व्यक्ति पर और घाव करती है करोड़ों की आत्मा पर। ऐसे लोग उस संस्कृति, इतिहास और धर्म का क्या अचार डालेंगे जिसने साधारण मानव को पशु से भी बदतर जीवन जीने को मजबूर किया हो। कितना सभ्य होगा वह समाज वहाँ बन्दर, गाय और पत्थर को शीश

झुकाया जाय और पूजा जाय लेकिन समाज सेवा करने वालों को घृणा एवं नीच दृष्टि से देखा जाय। कौन अनुभव करेगा उस पुत्र के मानसिक उत्पीड़न को जिसके सामने उसके बूढ़े पिता को कोई नाम लेकर और जाति की गाली देकर पुकारे? इस टीस को भरने में बहुत वक्त लगेगा दोस्तो जो सदियों की दी हुई है। जमींदारों के कल के लौंडे भी किस प्रकार दलितों से व्यवहार करते हैं—“बड़े तो बड़े, छोटे भी सुभान अल्लाह, उनके बेटे—बेटियाँ यहाँ तक कि बच्चे भी इसी तेवर में बोलते थे — राम प्रसाद आ जाय तो उसको बोल देना, हमारी चप्पल की मरम्मत कर दे। घर में हम सभी को बुरा लगता था। पर कर भी क्या सकते थे? हम लम्बे समय से अपमान सहते आये थे, पर गुनहगार न थे। हम हारे हुए लोग थे जिन्हें आर्यों ने जीतकर हाशिये पर डाल दिया था। हमारे पास अंग्रेजों के द्वारा दिये गये तमगे, मेडल, पुरस्कार न थे। हमारे पास था सिर्फ कड़वा अतीत और जख्मी अनुभव। मन और शरीर पर चोट पड़ती तो वे ही जख्म हरे हो जाते। सदियों से गर्दिशों में रहते—रहते हम अपने इतिहास से कट गये थे। अपनी संस्कृति भूल गये थे। .....हमारी गिनती गुलामों में की जाने लगी। वे मालिक बन बैठे।”<sup>4</sup>

धर्म के नाम पर हिंसा करना भी भारतीय समाज की एक मानसिक विकृति है। यह कैसा धर्म? जहाँ लोग अपना जीवन सुरक्षित रखने की खातिर निरीह प्राणियों की जान से खेलते हैं। हिंसात्मक महोत्सव हिन्दुओं एवं मुसलमानों दोनों में होता है। यह अलग बात है कि हिन्दुओं में यह यदा—कदा होता है। वहीं मुसलमान तो ईद के नाम पर लाखों बेजुबान पशुओं के खून से होली खेलते हैं। क्या अल्लाह किसी बन्दे को खून बहाने की अनुमति देता है? उत्तर होगा नहीं। इसी हिंसा के कारण बच्चों में बेखौफ कत्ल करने की प्रवृत्ति पनपती है। धर्म कभी किसी को हिंसा की अनुमति नहीं देता है। यह सिर्फ पाखण्डों एवं कुरीतियों के कारण पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरण होता है। इसका प्रभाव है कि मुसलमान पुरुषों की अपेक्षा औरतें अधिक दयालु, प्रेमी एवं रहमदिल होती हैं। तभी तो बन्नो कहती है—“मदन की अम्मी, अय मदन की अम्मी।” ताई माँ ऊपर से आती बत्तो की आवाज सुनकर आँगन में आकर पूछती —“क्या बात है बी?” अय ईद सिर्फ हमारी है क्या? “ ” नई बी, ईद तो सबकी है। “ ”अल्ला—ताला तुम्हें तथा तुम्हारे बच्चों को सलामत रखे।”

सईयों से भरा प्याला पकड़ाते हुए कहती—“देख खुदा की नियामत हैं सईयां मना मत करना।”<sup>5</sup> इतनी आत्मीयता हिन्दुओं एवं मुसलमानों की सभी जातियों में होती तो कोई भी बाहरी परिन्दा देश की तरफ नजरें उठाकर देखने की गुस्ताखी नहीं करता। इससे एक ऐसे समाज का निर्माण सम्भव था जो पूरी दुनियाँ में अकाट्य बना रहता। लेकिन क्या किया जाय इन कट्टर पंथी मुल्ला और पंडों का जिन्होंने धर्म एवं जाति के नाम पर लोगों के बीच ऐसी नफरत की खाई बना दी है जिसे भरने में न जाने कितनी सदियाँ लगेंगी। क्योंकि किसी घर को बनाने में वर्षों लगते हैं लेकिन ध्वस्त करने में चन्द मिनटें काफी हैं।

जिस भारतीय समाज के हिन्दू धर्म ग्रन्थों में कहा जाता है कि वसुधैव कुटुम्बकम् अर्थात् सारी पृथ्वी ही अपना घर है। लेकिन यह घर सिर्फ जमीदारों, नवाबों एवं पूँजीपतियों के लिए ही उपयोगी है। दलितों एवं नारियों के लिए तो यह ऐसा कैद खाना है जिससे मुक्त होना बहुत मुश्किल है। जहाँ जमींदार शादी-विवाह या खतना जैसे उत्सवों पर सुन्दर-सुन्दर फूलों से खेलते, रंड़ियों को नचवाते हैं विभिन्न तरह के मौस की दावतें उड़ाते। वहीं दूसरी ओर दलितों को उनकी किसी वस्तु को छूने तक का अधिकार नहीं था। नवाब जब जश्न की महफिल में बैठे तो दलित लोग उनके सामने उगालदान लेकर सदैव खड़े रहते थे। जमींदारों एवं नवाबों ने सदियों से मानवीय संवेदनाओं को अपने पैरों तले रौंदा है। यह कितना अमानवीय व्यवहार है कि एक जीता-जागता व्यक्ति दूसरे के थूक को लेने के लिए उसके सामने हर-पल खड़ा रहे। इसके बाद भी उसे बदले में सिर्फ जूठन के टुकड़े नसीब होते हैं। मोहनदास ने इस अमानवीय कुकृत्य को बहुत मार्मिक ढंग से अभिव्यक्ति दी है- "पड़ौसी मुसलमानों के घर शादियों एवं खतनों के अवसर पर बकरे को काटा जाता था। ऐसे अवसरों पर रंड़ियों को बुलाया जाता था। वे रातभर नाचतीं। इस जश्न में मुसलमान रातभर पान खाते, हुक्के गुड़गुड़ाते, रंग-बिरंगे फूलों के गजरे सूँघते, वाह-वाह करते। उनकी पर्दानशीन औरतें दूर से ही यह सब देखतीं और हमारी जात के लोग घड़ी-घड़ी उनके हुक्के भरते थे। उगालदान अपने-अपने हाथों में पकड़े सामने खड़े होते, वे कब थूकें पता नहीं। जब भी वे थूकें झट से उगालदान आगे कर देते थे। उनके मुँह का पान खत्म हो जाता तो पान-दान आगे कर देते थे। पर पान को हाथ न लगाते थे। .....हमें सार्वजनिक रूप से पान खाने की मना ही थी।"<sup>6</sup> सदियों से कुचलती आ रही इस मानवीय संवेदना को यदि नहीं बचाया गया तो यह मानव जीवन जीता-जागता ज्वालामुखी बन जायेगा। शोषण किसी का हो जब वह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचता है तो उसका परिणाम भयानक ही होता है।

'अपने-अपने पिंजरे' में दलित शोषण के साथ-साथ मुस्लिम नारी के शोषण को भी वाणी दी है। वे बताते हैं कि मुसलमानों के घर में औरतों को केवल अपने भोग की वस्तु समझा जाता था। वे सदा उनको पर्दे में ही रखते थे। वे चाहे रंड़ी- खाने जायें या रंड़ी घर पर बुलायें लेकिन औरतों को उन्हें टोकने का अधिकार नहीं था। यदि वे उन्हें मना करती थीं तो वे उन्हें जानवर की तरह नंगा करके पीटते थे। मुसलमानों में नवाब ही नहीं कसाई जैसे लोग भी अपने आपको नवाब से कम नहीं समझते थे। यह धर्मगत कट्टरता एवं पुरुषवादी सोच किस कदर नारी का उत्पीड़न कर सकती है यह तो भोगने वाला ही समझ सकता है। मेरठ के कसाई के विषय में लेखक कहता है कि- "मेरठ के कसाई तेल-लगी लाठियों से उनके नंगे बदन पर वार जरूर करते थे। जानवर और औरतों में इनके लिए कोई फर्क न था। एक को काटते थे दूसरे को पीटते थे। ऐसे में हम सड़क पर इकट्ठा हो जाते थे। पर भीतर कोई नहीं जाता था। क्योंकि वे पर्दे-वालियाँ थीं। नूर मुहम्मद पीटते हुए

पूछता- "बता भोसड़े मरानी क्यों गई थी कोठे पर?" तू भी तो जाता है रोज अपने फलान को उठाए।" और नूर मुहम्मद चीखते हुए और गालियाँ देता- "अबकी अगर कोठे पर गई, ससुरी तो तुझे वई नंगा कर दूंगा। तेरी सुतनियाँ खोलकर कुत्तों से नुचवाऊँगा।"<sup>7</sup> इससे साफ जाहिर है कि मुसलमान कितने अय्याश एवं कट्टर थे। अपनी अय्याशी में खलल न पड़े इसलिए वे औरतों की आवाज को सदैव बन्द रखने का प्रयास करते थे।

राजतन्त्र से लेकर लोकतन्त्र तक के सफर में मुसलमानों की सोच में परिवर्तन तो हुआ है लेकिन उतना नहीं। राज घराने में औरतों को शिक्षा प्राप्त करना, प्रेम विवाह करना, स्वेच्छा से अपना कैरियर चुनने की आजादी नहीं थी। आज पश्चिमी संस्कृति के खुलेपन से वह धीरे-धीरे समाज में अपनी आवाज बुलन्द कर रही हैं। लेकिन कट्टरपंथी कटमुल्लों की सोच आज भी औरत को केवल बच्चा पैदा करने का साधन समझती है। केरल के सुन्नी नेता कनथापुरम एपी अबूबकर मुस्लीयर ने अपने बयान में कहा- "महिलाएँ सिर्फ बच्चे पैदा करने के लिए होती हैं। महिलाएँ पुरुषों के बराबर नहीं हो सकती। लैंगिक समानता की बात गैर इस्लामी है।"<sup>8</sup> धर्म के नाम पर औरतों का शोषण आज भी जारी है अन्तर सिर्फ इतना है कि हिन्दू औरतों को आजादी अधिक है लेकिन मुसलिम औरतें आज भी पुरुष मानसिकता की शिकार हैं। शहरों में तो परिवर्तन हो रहा है लेकिन गाँव के लोगों की सोच आज भी सौ साल पीछे ही दिखायी देती है। आज भी अलीगढ़, मेरठ, मुरादाबाद, हरियाणा, आदि ऐसे स्थान हैं जहाँ जाट मुसलमान, ठाकुर आदि की लड़की यदि किसी दलित लड़के से प्रेम विवाह करती है तो उनका कत्ल कर दिया जाता है।

मोहनदास ने 'अपने-अपने पिंजरे' में हिन्दू धर्म की उस विकृत मानसिकता को उजागर किया है जहाँ भगवान और मानव में भेद किया जाता है। किस प्रकार कोई दलित अपने को हिन्दू कहे? जब उस निर्जीव भगवान को छूने भर से वह अपवित्र होता है। सदियों से लेकर आज तक देश के जितने मंदिर या मठ हैं। वहाँ का पंडा ब्राह्मण ही क्यों होता है? दलित क्यों नहीं? यह सवाल प्रत्येक व्यक्ति आज भी पूछने का अधिकारी है। दलितों को आज भी उसी नजर से देखा जाता है। धन्य है वह पश्चिमी संस्कृति जिसके खुलेपन ने आज प्रेम विवाह को बढ़ावा दिया है। आज भले ही सवर्ण मंदिर की चाबी न दें। विवाह पढ़ने की अनुमति न दें। लेकिन अपनी लड़कियों को दलित लड़कों के साथ विवाह करने से नहीं रोक पाते हैं। गाँव में आज भी जाति के आधार पर शमशान निर्धारित हैं। जाति के अनुसार त्यौहार मानये जाते हैं। यह किसी से छिपा नहीं है कि धर्म के नाम पर मन्दिरों में एवं मठों में किस प्रकार नारियों का शारीरिक शोषण होता है। उसके बाद भी वे भगवान के भक्त कहलाते हैं। कहना न होगा कि धार्मिक स्थान आज अघोषित वेश्यालय बनकर रह गये हैं। मोहनदास मंदिरों की वास्तविकता को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि- "वही मंदिर कभी-कभी चकला भी बन जाता, शराब घर और जुआघर भी पर बहुता की आस्था थी उसमें कुछ को आश्रय भी मिलता था। सड़क के किनारे मंदिर की

एक कोठरी भी बनी थी। वर्षा से बचने के लिए लोग उसमें आते थे उसी कोठरी में सिगरेट-बीड़ी के टोटेभरे होते थे। कभी-कभी शराब की खाली बोतलें भी।<sup>9</sup>

धार्मिक अंधविश्वास ब्राह्मवादी व्यवस्था की देन है मंदिरों के मठाधीश जादू-टोना एवं जन्तर-मन्तर के नाम पर भोली-भाली औरतों का शारीरिक शोषण करते हैं परम्परा, भगवान और रीतिरिवाज का हवाला देकर वे लोग आरतों से व्यभिचार करते हैं। धार्मिक अंधविश्वास ऐसा अतार्किक तथ्य है जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है। यह एक मानसिक बीमारी बन जाती है जिसे ठीक करना बहुत मुश्किल काम है। इसीलिए गाँव या शहर की औरतें संतान की चाहत में मंदिरों की देहली पर बार-बार सिर पटकती हैं। तब किस प्रकार पुजारी उनको अपने भंवर जाल में फंसाता है-“किसी दूसरे शहर के छोटे मन्दिर में पुलिस चौकी पर ही उस औरत ने बताया कि उसे बच्चा नहीं होता था। वह उसी मन्दिर में जाती थी। जिसमें वह पुजारी था। पहले भभूत देता था फिर रात में बुलाता था। बाद में उनके बीच जिस्मानी सम्बन्ध हो गये। फलस्वरूप उसे गर्भ रह गया। पर इसी बीच उसके पति ने डॉक्टर से चैक अप कराया। वह नपुंसक था। और उसकी बीबी को बच्चा होने वाला था। बात अधिक न खुले वे दोनों भाग गये।<sup>10</sup>

समाज में जो लोग अपनी अस्मिता को बनाये रखने के लिए निरन्तर संघर्षरत हों वहाँ शिक्षा की बात करना बेईमानी है। जहाँ खान-पीन, रहन, सहन, सम्मान, सभी के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। ऐसे में किस प्रकार शिक्षा प्राप्त की जाय। दलितों की जिस व्यवस्था में कोई भागीदारी नहीं है तो वहाँ किस प्रकार पहुंच सकते हैं।

सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, आदि सभी क्षेत्रों में सवर्णों का वर्चस्व कायम है दलितों की मानसिकता को सवर्णों ने इस प्रकार विकृत कर दिया है कि वे आगे बढ़ने की सोचते हैं लेकिन उन्हें अवसर नहीं दिया जाता है। आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्ति पहले अपना पेट भरने की सोचेगा बाद में कुछ और इसीलिए दलितों के लड़के तो धीरे-धीरे शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं लेकिन लड़कियों को शिक्षा दिलाना उतना आसान नहीं। पर्दाप्रथा एवं दहेज प्रथा जैसी कुरीतियों ने लड़कियों की शिक्षा को सबसे अधिक प्रभावित किया है मोहनदास स्कूल की खस्ता हालत एवं लोगों की सोच को बयां करते हुए लिखते हैं कि-“स्कूल में बिजली भी न थी। गर्मियों में हमें खूब गर्मी और सर्दियों में खूब सर्दी लगती थी। ले-देकर बस्ती में एक यही तो स्कूल था। बस्ती वालों को सन्तोष था। स्कूल जैसा भी था, आखिर स्कूल था। उस समय दलितों की बस्ती में स्कूल होना बड़ी बात थी। लोग स्कूल को शिक्षा का सूरज मानते थे। बस्ती में जैसे-जैसे सूरज उगेगा, वैसे-वैसे अशिक्षा के साथ-साथ कुरीतियाँ तथा कुप्रथाएँ दूर होंगी। बस्ती के लोग अपने बच्चों को पढ़ाने-लिखाने में रूचि लेने लगे थे। पर लड़कियों को स्कूल में न भेजा जाता था। उनका स्कूल भेजना खराब माना जाता था वे घर पर ही रहती थीं। अपनी माओं, चाचियों एवं भाभियों के साथ घर के काम कराती थीं।<sup>11</sup>

समाज के सामन्ती एवं जमींदार लोगों की तुलना यदि गरीबों एवं पीड़ितों से की जाय तो दोनों में जमीन एवं आसमान का अन्तर है। इतिहास इस बात का गवाह है कि राजाओं एवं जमींदारों का जीवन सदैव तीन चीजों में बर्बाद हुआ है। पहला धन सम्पत्ति हड़पना, दूसरों की जमीन पर कब्जा करना और तीसरा नारी को साम, दाम, दण्ड भेद से हासिल करना। इसीलिए चरित्र, नैतिकता एवं ईमानदारी का इनसे दूर का वास्ता रहा। वहीं गरीब एवं शोषित लोगों का जीवन सदैव सदाचार से लबालब भरा रहा है। क्योंकि उन्होंने कभी भी विपरीत परिस्थितियों में भी ईमानदारी एवं नैतिकता का दामन नहीं छोड़ा। कहावत सच है कि कमल कीचड़ में, गुलाब कांटों में और लाल गुदड़ी में ही छिपे होते हैं। लेखक के ताऊ जिन्हें लोग बा के नाम से पुकारते हैं वे ईमानदारी की जीती-जागती प्रतिमूर्ति हैं -“ बा मेम्बर बन गया था पर मेम्बर जैसी हैसियत नहीं बना पाया था। जैसा पहले था वैसा ही बाद में भी रहा। जरा भी परिवर्तन बा मैं नहीं आया। वह पहले भी चप्पल बनाता था बाद में भी वही सब करता रहा।<sup>12</sup>

दलितों के जीवन की सच्चाई को कौन बेहतर समझ सकता है ? एक ऐसा व्यक्ति जिसने कभी गरीबी नहीं देखी, कभी गुलामी नहीं की, कभी जातिगत द्वेष नहीं झेला। वह किस प्रकार दलित जीवन की वेदना को हृदय से अनुभव कर सकता है। जिसने सदियों से गुलामी, गरीबी, जाति की मार खाई हो उसे उठने में वक्ता तो लगता है, दलित सदियों से ईमानदार एवं चरित्रवान थे। इसके बाद भी बदले में क्या मिला? धृणा, तिरस्कार, अपमान एवं प्रत्येक प्रकार का शोषण। दलित कितना भी बड़ा पद प्राप्त कर लें लेकिन सवर्णों की सोच इनके प्रति बदलती दिखायी नहीं देती है। हाँ एक प्रतिशत लोग ही ऐसे होते हैं जो शोषितों की पीड़ा के प्रति संवेदनशील होते हैं। लेकिन सदियों से आज तक लोग उसी नजर से देखते आ रहे हैं।

जमींदार एवं नवाब तो कभी महत्व देते ही नहीं थे सदैव शक की नजर से देखते थे। “वा जब मेम्बर बना, उसके पन्द्रह दिन बाद नवाब आया। बा उस समय रांपी से चमड़ा काट रहा था। थोड़ा पास आकर बोला “राम प्रसाद, मेम्बर तो तू बन गया, पर हमारा किराया देना मत भूल जाना।” नवाब फिर बोला-“दो महीने चढ़ गये हैं जल्दी से किराया भिजवा देना।” कोई न होता तो नवाब पूछता-“ फलां कहाँ गया है, ठिमाका कहाँ मर गया ? जब आये तो घर भेज देना।” नवाब अकसर गुस्सा करता था। ऐसे समय पर वह घर की चप्पलों को मरम्मत करने के लिए दे देता। बा वहीं से हाथ में चप्पल उठाकर ले आता था। पर नवाब चप्पल मरम्मत का पैसा न देता था। ऐसा ही होता था। वह बेगार थी, पर हमारी जात के लोगों की मजबूरी थी। बेगार न करें तो जिन्दगी मुसीबतों मुश्किलों से घिर जाती थी। जिनका सामना करना हमारी जात के लोगों के बस का नहीं था। हमारा बोझ भी दोहरा था। एक गरीबी का और दूसरा जाति-पाँत का।<sup>13</sup>

भारत एक ऐसा देश है जहाँ दो तरह की दुनियाँ के रंग देखने को मिलते हैं। एक दुनियाँ वह है जहाँ गर्भ से लेकर मृत्यु तक कोई दुःख दर्द पास नहीं भटकता है

धन—दौलत, भोग विलास सारी चीजें विरासत में मिलती हैं। ये वे लोग हैं जो स्याह को सफेद और सफेद को स्याह मन मर्जी से करते हैं। उनके लिए मानव भी उस 'खिलौने' जैसा है जिसके विषय में कहा जाता है कि खेल लो खिला लो टूट जाय तो फेंक दो। दूसरी दुनियाँ वह है जहाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक सारे क्रिया कर्म दूसरों की इच्छानुसार होते हैं। वे सांस भी लेते हैं तो उनकी मर्जी से इनके लिए दिन—रात का कोई मतलब नहीं। इनकी रात और दिन सर्दियों से गर्दिश भरे रहे हैं। इतना ही नहीं इन लोगों को सदियों से समाज सेवा करने के बाद भी इंसान नहीं समझा गया। चाहे गांव हो या शहर इनकी जिन्दगी का अपना कोई रंग नहीं था। जो दूसरों ने दिया उसे न चाहते हुए भी जहर की तरह पीना पड़ा। इस दुनियाँ के दर्द को नापने का कोई पैमाना दुनियाँ में नहीं बना। यही है असंख्य अभावों के रंगों की दुनियाँ जिसे दलित, आदिवासी, स्त्री आदि नामों से जाना जाता है। मानव की तो बात क्या मौसम भी जैसे व्याज सहित कष्ट देता है "गर्मी और बरसात के मौसम के चिपचिपे दिन और उमस भरी रातें दोनों ही हमारे लिए दुविधा और संकट के होते थे। हमारे लिए दिन और रात एक बराबर थे। हालांकि दिन सफेद होते थे ओर रात काली। हमारे लिए रंगों का कोई मूल्य न था। हमारे तो अपने रंग अलग थे, जिनके संग जीने मरने का नाता था। वे रंग थे गरीबी और अभाव के। वे रंग थे बीमारी और काम न मिलने की तकलीफ के। हमारी इन्हीं रंगों की अलग दुनियाँ थी। शहर में रहते हुए भी हम शहरी न थे। हमारे आस—पास गाँव जैसा कुछ भी न था।"<sup>14</sup>

धर्म, हिंसा और नफरत तीनों का चोली—दामन का साथ रहा है। ऐसा किसी धर्म—ग्रन्थ में नहीं लिखा कि मानव को जाति के नाम कत्ल कर दो, धर्म के नाम पर खून बहा दो फिर क्यों लोग धर्म और जाति के नाम पर एक—दूसरे के खून के प्यासे बन जाते हैं। हिन्दू मुसलमानों के धार्मिक संघर्षों में दलित तो उस घुन की तरह पिसता है जिसका कोई कुसूर नहीं। क्योंकि दलितों को हिन्दुओं एवं मुसलमानों ने सदैव हथियार के रूप में इस्तेमाल किया है, मानव के रूप में नहीं। जाति एक ऐसी मानसिक बीमारी बन चुकी है जो प्रत्येक व्यक्ति के जन्म के साथ पैदा होती है और मरने के बाद भी उसका पीछा नहीं छोड़ती है। इस बीमारी का कारण जब कोई बच्चा जानना चाहता है तो उसे भी वह उत्तर नहीं मिलता जो मिलना चाहिए। धर्मान्धता की आग सदैव नेता, सांसद एवं विधायकों द्वारा लगायी जाती है। निर्धन ही जलते हैं जमींदार एवं व्यापारी नहीं। इस नफरत की आग में हाशिये के लोग तो नफा में ही जलते हैं। कहा जाता है कि बचपन वह कच्ची मिट्टी है जिसे जिस सांचे में ढालों वैसा ही बन जाता है। दलित कभी नहीं चाहते कि उनका बच्चा जातिगत मानसिकता से ग्रसित हो। लेकिन सामाजिक व्यवस्था से अलग कैसे रहा जा सकता है? जहाँ घरों में इंसान नहीं ब्राह्मण, ठाकुर, मुसलमान, दलित, आदिवासी औरत आदि पैदा होते हैं—

"अब मेरा सवाल था—'बा, ये मुसलमानों को क्यों मारते हैं?'"

"क्योंकि वे हिन्दू हैं" बा का उत्तर था।

"और हम कौन हैं?" मेरा अगला सवाल था।

"हम चमार हैं।" बा बोला।

"पर क्या चमार हिन्दू नहीं होते?" मैंने फिर पूछा था।

बा ने जवाब देने पूर्व पलभर मेरी आँखों की ओर देखा,

फिर कहा —"चमार—चमार होते हैं। न हिन्दू न मुसलमान।

हम चमार हैं, ऐसा क्यों है ? चमार कौन होते हैं? तब मुझे मालूम न था। मैं और आगे जानना चाहता था। पर किससे मालूम करूँ।"<sup>15</sup>

धार्मिक अन्धविश्वास और जादू—टोना ने भी दलित समाज की मानसिकता को विकृत कर दिया है। देवी—देवता, पीर—औलिया झाड़—फूंक आदि के चक्कर में पड़कर लोग अपना जीवन बर्बाद कर देते हैं। आज इक्कीसवीं सदी में भी लोग जादू—टोने में विश्वास करते हैं जबकि दुनियाँ चांद—सितारों पर सफर कर रही है। लेखक के बड़े भाई जानकी नपुंसक थे। उनका इलाज किसी कुशल डॉक्टर से कराने के बजाय झाड़—फूंक से उसका इलाज किया जाता है। जिससे उसकी बीमारी कभी ठीक नहीं होती है।—"हाजी के पास भी ताई माँ ने बड़े भाई की दवाई के लिए जाना शुरू किया। वह सुबह—शाम रोज जाती थी। और हाजी फूंक मारकर पुड़िया में कुछ दे देता था। वह दवाई ताई माँ जानकी भइया को चुपके से खिलाती थी। पर भइया मर्द होकर भी कभी मर्द नहीं बन सका।"<sup>16</sup>

जिसे देश में धर्म की आड़ में प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा किया जाय, मानव की जगह पत्थर एवं जानवरों को पूजा जाय, मंदिरों, मठों एवं मंत्रों में जातिगत आधार पर प्रतिबन्ध लगे। इतना ही नहीं मेले उत्सव व धार्मिक आयोजनों की आड़ में शराब एवं वेश्यावृत्ति पनपे तो कैसे एक सभ्य समाज का निर्माण होगा? कितनी अमानवीय होगी वह क्रूरता जब प्यासे आदमी को जाति बताने पर पानी भी नसीब न होता है, कैसे बनेगा समता मूलक समाज? जब पानी जैसी चीज पर भी प्रतिबन्ध लगाया जाता है, कितना आक्रोश में होगी उसकी आत्मा जब उसे दो घूँट पानी पीने को न मिले? कौन नाम लेगा: ऐसे धर्म का? जहाँ मानवीय संवेदनाएँ घुट—घुटकर दम तोड़ रही हों। साथ ही गंगा मैया, गैया मैया, पत्थर के भगवान आदि को छप्पन भोग लगाये जाते हैं। एक जीते—जागते मानव को जाति पूछकर दुत्कार कर भगा दिया जाता है—"हमें पानी पिला दो, बड़ी प्यास लगी है। भइया के स्वर में गिड़गिड़ाहट के भाव थे। "म्हारे घर चमारों की खात्तर पानी ना है। उन्होंने इन्कार कर दिया था।.....एक जगह से चुल्लू भर पानी लेकर मुँह में डाला। पानी में बदबू थी। पानी का स्वाद भी कड़वा था। मुझे प्यास बुझानी थी। पानी कैसा भी हो आखिर पानी था। किसी के घर का पानी या जोहड़ का। मैंने चार—पाँच चुल्लू भर पानी अपने गले में डाला। सामने भइया खड़ा था। उसकी आँखों में आँसू छलक आए थे।"<sup>17</sup>

शिक्षण संस्थाओं में भी सवर्णों द्वारा दलितों के बच्चों को मानसिक रूप से प्रताड़ित किया जाता था। क्योंकि शिक्षा, स्वास्थ्य, न्याय एवं सुरक्षा सभी जगह पर इन्हीं का कब्जा था। किसी प्रकार दलितों ने शिक्षा प्राप्त करने की कोशिश की तो ये बजाय हौसला बढ़ाने के उन्हें

जातिगत व्यंग्य बाणों से बराबर आहत करते रहते थे। ये भूल जाते थे कि अभावों की दुनियाँ का दर्द कितना गहरा होता है। कभी दलितों की ड्रेस देखकर, कभी अपना काम जबरदस्ती कराते समय बात-बात पर दुत्कारते थे।—“जो छात्र ड्रेस में नहीं होते थे उन सभी को बहुत कुछ सुनना पड़ता था। बार-बार हमें कहा जाता “अबे तुमसे पढ़ने के लिए कौन कहता है? बस जूते-चप्पल बनाओ आराम से रहो। चले आते हैं ससुरे न जाने कहाँ-कहाँ से?”.....अरे पढ़-लिखकर क्या तू लाट-गवन्नर बन जागा। गाँठेगा तो येई लीतरे!”<sup>18</sup> जी तोड़ काम भी कराते थे। इसके बाद पैसे भी नहीं देते थे। कैसे भूलेंगी वह जीती-जागती जिन्दगियाँ जिन्हें केवल धास फूस की तरह समझ कर इस्तेमाल किया गया हो। सामंती शिक्षा और दलितों की शिक्षा में यही तो फर्क था। एक विरासत में मिलती है। बिना परिश्रम के, हराम के पैसे से, जनता के खून की कमाई से। और दूसरी जी-तोड़ मेहनत करने के बाद अब अनुमान लगाया जा सकता है कि कौन सी शिक्षा मे ईमानदारी एवं नैतिकता जिन्दा रहेगी? हाड़-तोड़ परिश्रम करने के बाद भी बदले में उसे सड़ी-गली चीजें मिलें तो कैसे माना जाय कि दलितों को मानव समझ रहे हैं?

हिन्दू धर्म के वाह्य आडम्बर एवं रीति-रिवाजों ने दलितों एवं औरतों को अंधविश्वासी बना दिया। दलित सदियों से इन्हीं के कारण—देवी-देवता, पीर आदि की पूजा करते आ रहे हैं। धार्मिक अंधविश्वास की जंजीरों ने आज भी करोड़ों दलितों एवं स्त्रियों को अपने वश में कर रखा है। ये जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक पाखण्डों के सहारे जीते हैं जिनके पीछे कोई उचित तर्क नहीं, वैज्ञानिक प्रामाणिकता नहीं, अनेक देवी-देवता तो ऐसे हैं जिन पर बकरा चढ़ाकर अपनी मनोती माँगी जाती है। हजारों रूपये खर्च करके यज्ञ-हवन व कथा करायी जाती है। इतना पैसा यदि बच्चे की पढ़ाई में लगाया जाय तो शायद न जाने कितने लोगों की जिन्दगी बदल जाय। लेकिन इतना होने के बाद भी दलितों एवं नारियों को कभी हिन्दू नहीं माना जाता है। पीर पूजने के बाद भी दलितों को मुसलमान नहीं अपनाना चाहते। अब कैसे हम कहें कि हम हिन्दू हैं? अधिकांश मुसलमानों ने तो सदियों से शासक बनकर अय्याशी पूर्वक जीवन जीया है। वे जानते हैं कि दलित तो हमारे गुलामों (हिन्दुओं) के गुलाम हैं तो यह हमारी बराबरी नहीं कर सकते। इसी का परिणाम है कि दलित सदैव धार्मिक संकीर्णता एवं अपमान का शिकार हुए—“कुछ लोग हमारी जात के लोगों पर इल्जाम लगाते हैं कि हम मुसलमानों के साथ रहते-रहते दोगले हो गये हैं। हमारी संस्कृति, परम्परा के सूत्र बिखरकर न जाने कहाँ गुम हो गये थे। बाबा साहेब डॉ० अम्बेडकर ने 6 दिसम्बर 1956 में बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था पर हम बौद्ध कहाँ थे ? केवल बुद्ध शरणम् गच्छामि कहने से तो बौद्ध नहीं हो जाते, फिर हम कौन हैं? दंगे भड़काने पर मुसलमान हमें हिन्दू समझकर मारते हैं और हिन्दू चमार समझकर अपमानित करते हैं पर हमारे कोई अधिकार नहीं थे। न कभी किसी ने दिये और न किसी को लेने का अवसर मिला।

कोल्हू के बैल जैसे एक ही जगह घूमते रहे।

हमारी आँखों पर पट्टी बाँध दी गई।<sup>19</sup>

उस जीवन की पीड़ा कितनी भयानक हागी जिसे जिन्दा रहने के लिए सांस लेने से लेकर पानी तक दूसरे पर निर्भर रहना पड़े। पेट भरने के लिए दूसरों की जूठन पर आश्रित हो। इस जीवन की कसक को धन पशु, भोगी विलासी जीवन जीने वाले कैसे अनुभव कर सकते हैं? आटा, नमक, मिर्च, कपड़े, तेल आदि सभी को मोहताज रहना पड़ता था। इतना ही घर का चूल्हा भी जहाँ पराई आग से जले—“घर-घर में मिट्टी के चूल्हे थे पर आग साँझी होती थी। एक किसी घर में चूल्हा जलता तो उसकी आँच घर-घर पहुँचकर अन्य चूल्हों को जलाती थी। पर माँ अपने चूल्हे से बहुत कम ही आँच पड़ोसियों को देती थी। उसका कारण था। जली लकड़ियों के टुकड़े ताई माँ फोरन चूल्हे से निकालकर खाली घड़े में डालती रहती थी। पतंगे घड़े में जाकर बुझ जाते थे। वही बाद में कोयले बन जाते थे। जिन्हें ताई माँ अंगीठी में दूध-चाय गर्म करने, बनाने में इस्तेमाल करती थी।<sup>20</sup>

शहरों की जिन्दगी के रंग ही निराले होते हैं। शहरों में गाँव जैसी पर्दा प्रथा एवं जातिगत मानसिक बीमारी कम होती है। लेकिन शोषण एवं अभावों के विविध स्वरूप अवश्य दिखायी देते हैं। ऋतुएँ तो भी एक समय बाद अपना स्वरूप पूर्णरूप से परिवर्तित कर लेती हैं। लेकिन दलित जीवन की दासता में बहुत मामूली सा परिवर्तन होता है। अभाव किसी न किसी रूप में दलितों के जीवन में बना रहता है—“किसी परिवार में कोई विधवा होती तो किसी में बिन ब्याही जवान बेटा। हमारी बस्ती में ऐसे रंडवे भी होते जिनका कराव तक नहीं होता। उनकी गिनती न शादीशुदा मर्दों में न विधुरों में किसी को गठिया दर्द, तो किसी को गुर्दे का दर्द। किसी के भीतर दर्द। पीड़ा का समन्दर हमें चारों तरफ से घेरे रहता। बस्ती में जो चमड़े को मथते उनके स्वयं के ही चमड़े को कोई भी मथ देता। .....ऋतुएँ बदल जातीं। पर हमारे दुःख-दर्द ओर अभाव वैसे ही बने रहते। सर्दी आकर ठिठुराती, गर्मी खूब तपाती, बरसात भिगोती और बसंत हरियाली ओढ़कर हमें चिढ़ाता। पतझड़ जैसा जीवन हमारा होता।<sup>21</sup>

जातिगत मानसिक बीमारी ऐसी कि प्रत्येक जाति अपने से नीची जाति खोजने में देर नहीं लगाती है। क्योंकि जो जाति कर्मना थी वह जन्मना बन गई। यही कारण है कि आज दलित, स्त्री एवं आदिवासी आदि कितने भी ऊँचे पदों पर आसीन हों उनका परिचय पहले जाति से दिया जाता है, बाद में पद का जिक्र होता है। शिक्षा प्राप्त करने के लिए दलित छात्रों को जो छात्रवृत्ति मिलती है उसे देने में उनके जैसे बाप के घर से जाता है। जब भी छात्र वजीफे के बारे में पूछते हैं तो उनको बहुत बुरी तरह से प्रताड़ित एवं अपमानित करके भगा देते हैं।

“कोलिज में जब भी पता चलता है कि वजीफा का चेक आया है, हम कार्यालय में मनमोहन शर्मा से पूछने जाते वह कोई न कोई बहाना बना देता था। हम पांच-छः दलित विद्यार्थियों में से कोई बोलता तो वह नाराज होकर कहतो—“जाओ-जाओ अभी कोई वजीफा—सजीफा नहीं आया है। पढ़ने आते हैं या वजीफा लेने।” फिर वह सामने बैठे हेड क्लर्क से यह कहते हुए हमारी

खिल्ली उड़ाते हुए व्यंग्य के तीर छोड़ता,“ देखो क्लास विलास में जाकर कुछ पढ़ते-लिखते नहीं और हमारे सीने पर हर समय सवार रहते हैं। हेड क्लर्क कहता-“आरे भाई इसमें इनकी गलती थोड़े ही है। सरकार ने आरक्षण देकर इनका दिमाग खराब कर दिया है। अब तो ये सरकारी दामाद हैं।”<sup>22</sup> उस समय से लेकर आज भी लगभग सभी शिक्षण संस्थानों में दलित बच्चों के साथ ऐसा ही भद्दा मजाक लोग करते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि यह समाज में परिवर्तन लाने, समाज में बराबरी का हक दिलाने के लिए दिया गया है। वजीफा और आरक्षण कोई मेहरबानी नहीं बल्कि सदियों की समाज सेवा का फल है जो आज भी पूरा नहीं मिल रहा है। अनेक शिक्षण-संस्थानों में पैसे लेकर बच्चों को वजीफा दिया जाता है। आरक्षण के आज भी कम से कम 80 प्रतिशत पद खाली हैं। इतना ही नहीं कहीं-कहीं एन. एफ.एस लगाकर सवर्णों को उन पदों पर अस्थायी रूप से बैठा रखा है। यह कैसा समता मूलक समाज है? जहाँ घर बनाने वाला बेघर है, वस्त्र बनाने वाले के तन पर कपड़ा नहीं, अन्न पैदा करने वाला भूखे पेट रहे, समाज सेवा करने वाला अपमान, उपेक्षा, उत्पीड़न एवं अन्याय का शिकार हो। लेकिन इसके बाद भी जितनी ईमानदारी, स्वाभिमान एवं देश प्रेम गरीब एवं पीड़ित लोगों के पास होता है उतना शोषकों के पास नहीं होता है। “हम गरीब जरूर थे पर हमने न देश बेचा था न अपना जमीर। न हम डंडीमार थे। और न ही सूदखोर। चोर लुटेरों की श्रेणी में हम नहीं आते थे। हमारे पुरखों ने घर बनाए शहर बनाए पर न हमारे पास ढंग के घर थे न बस्तियाँ। शहरों के भीतर बसने की कल्पना करना भी हमारे लिए मुश्किल थी। .....हम मराठे/मुगलों /पठानों/अंग्रेजों के बदलते रजवाड़े/ रियासतों के चश्मद्दीद गवाह रहे। शहर के नाले/कूड़ाघरों/ नदियों के कछारों/कब्रिस्तान के आस-पास हम जहाँ-तहाँ पसरते रहे। पर सवर्णों की तरह हमने न मुगलों से समझौता किया न अंग्रेजों से सौदेबाजी की। और न शहर में बख्सीस में हवेलियाँ /कटरे/मन्दिरों के नाम पर बड़े-बड़े भूखण्ड स्वीकार किये।”<sup>23</sup>

दलितों के विषय में कहा जाता है कि ये मन्दिर एवं भगवान से नफरत करते हैं। ये नास्तिक हैं। लेकिन किसी ने यह जानने की कोशिश नहीं की कि दलित ऐसा व्यवहार क्यों करते हैं? इसके पीछे कारण कौन सा है?

जब किसी जीते-जागते की अपेक्षा पत्थर के भगवान को महत्व देंगे तो क्या होगा? जब किसी दलित को मन्दिर में प्रवेश नहीं करने देंगे तो क्या होगा? भारत का इतिहास गवाह है कि भारत के किसी भी मन्दिर का पुजारी सदियों से आज तक कोई दलित क्यों नहीं बना? क्या दलित संस्कृत भाषा के विद्वान नहीं हैं? इन सारे सवालों के जवाब कौन देगा? ये उपेक्षा की दासता एक दिन की नहीं सदियों की कहानी है। यह एक दिन में समाप्त कैसे हो सकती है? यह सोलह आने सच है कि कोई व्यक्ति एक दिन में अपराधी, विद्वान, सन्यासी एवं नास्तिक नहीं बनता है: उसके पीछे शोषण एवं उपेक्षा का सदियों का दर्द होता है। “एक दिन प्रसाद देते हुए पुजारी की अंगुलियाँ मेरे हाथ से छू गईं। बस पुजारी का

पारा चढ़ गया। नाराज होते हुए झल्लाया “तू चमार का है न।” सब कुछ भरस्ट कर दिया। कितनी बार कहा तुम ढोरों से प्रसाद दूर से लिया करो।” मैं सुनकर सन्न रह गया था। हमारा तो कोई मन्दिर न था। सारे मन्दिर सवर्णों के थे। वे ही पुजारी वे ही चौकीदार। मैंने आवेश में वहीं प्रसाद पुजारी के सामने थूक दिया था। “थू, तुम्हारा मन्दिर और तुम्हारा प्रसाद! उस दिन से मन्दिर के भीतर रखे पत्थर के देवताओं के प्रति नफरत हो गई थी। बाद के दिनों में नफरत और बढ़ गई थी।”<sup>24</sup>

दलितों के विकास को धार्मिक अन्धविश्वास और भूत प्रेत की मनगढ़न्त कथाओं ने भी बहुत प्रभावित किया है ये भूत-प्रेत के चक्कर में अपने जीवन को भी मौत के मुँह में ढकेल देते हैं। कितने गहरे होंगे उस दर्द के जख्म जब जी तोड़ महनत करने के बाद डॉट-फटकार, गाली जूठन एवं घृणा पुरास्कार की तरह बराबर दी जाय। इंसान को इंसान न समझकर जानवर से भी बदतर समझा जाय। “दूसरी तरफ मर्द उन्हें डॉटे- फटकारे बिना नहीं रहते। गालियाँ भी देते थे। वे विवश भूखे पेट लिए घर बैठे बच्चों को जल्द से जल्द जूठन खिलाने को सब कुछ सहन करती।”<sup>25</sup>

शोषण के पिंजड़े का दर्द तो उसमें रहने वाला ही अनुभव कर सकता है देखने वाला क्या समझेगा? वह तो केवल सहानुभूति ही दिखा सकता है। दलितों ने सदैव समाज में फौली नफरत की आग को बुझाने का काम किया है। भले ही लोग उन्हें महत्व न दें। “बाद में बस्ती के आठ-दस लोग करम अली की मस्जिद में गये। उन्होंने चाय का प्रबन्ध किया। पहली बार मस्जिद में बैठकर मैंने चाय पी थी। हमें सुखद आश्चर्य हुआ। अच्छा भी लगा कि हम शान्ति और भाईचारे के अभियान में लगे हैं। अंजाम चाहे कुछ भी हो। और अंजाम अच्छा ही हुआ। हम सब की मेहनत रंग लाई। तीसरे दिन कपर्यू खुल गया।”<sup>26</sup>

गाँव और शहर दोनों का दर्द अलग-अलग है। गाँव में भले ही शहरों जैसी चमक-दमक न हो लेकिन ईमानदारी और स्वभाव में तो गाँव शहर से चार कदम आगे है। जाति व्यवस्था को यदि गाँव से समाप्त कर दिया जाय तो गाँव जैसी सुखमय जगह कोई नहीं हो सकती। शहरों ने जितनी तेजी से विकास किया है उतनी ही तेजी से नैतिकता का पतन हुआ है और बेहिसाब बढ़ती व्यवसायिक प्रवृत्ति एवं मशीनीकरण ने इंसानियत को कोमा में भेज दिया है। शहरों के राजनेताओं के साथ पूंजीपति भी दौलत के नशों में किसी को महत्व नहीं देते चाहे कोई कितने भी महत्वपूर्ण पद पर क्यों न हो? जहाँ कुत्ते वातानुकूलित कमरों में आराम करते हैं और गरीब आदमी फुटपाथ के किनारे झोंपड़ी में, यही है शहर की रंगीन दुनियाँ। जहाँ मजदूर दाने-दाने को तरसता है और कुत्ते दूध-मलाई का नाश्ता करते हैं। लेखक बार-बार यही सोचता है कि वह कौन सा दिन होगा? जब गरीब-अमीर के बीच की दूरी समाप्त होगी? यही सच्चे संवेदनशील कवि की पहली पहचान है। “हालांकि उस दिन फिर से मैंने स्वेटर तथा कोट पहन लिये थे, पर सारा दिन मुझे अजीब सा लगता रहा। गरीब और गरीबी के अनगिनत सवालों से रात भर जूझता रहा। एक हमारे

सेठ जी हैं जिनके पास बीस-बीस कारें हैं। बंगलों में नौकर-चाकरों की फौज है। दूसरी ओर गाँव में बिना छत के मकान, बिना कपड़ों के बच्चे और बिना सम्मान के गुलामों की तरह जीते हुए लोग, यह कैसी सृष्टि है? अनमेल समाज किसने बनाया, विषमता की बेल क्यों बढ़ रही है, आदमी—आदमी के बीच इतना अन्तर यह सब कब समाप्त होगा? ढेर सारे सवालोंने रात भर जूझता रहा।<sup>27</sup>

**उद्देश्य**

प्रस्तुत शोध आलेख का उद्देश्य है कि आजादी से पहले और आजादी के बाद भारत में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्तर पर दलित जीवन के स्वरूप को अभिव्यक्त करना।

**निष्कर्ष**

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा में उस भोगे हुए यथार्थ का जिक्र किया है जो सैद्धान्तिक दुनियाँ की पहुँच से कोसों दूर है। समाज में दो तरह की दुनियाँ होती हैं—एक वह जो कागजी ख्यालों से दूर यथार्थ की कठोर एवं निर्मम जमीन पर अपनी मंजिल तलाश करती है। या यों कहें कि व्यावहारिक ज्ञान की आँधी इतनी प्रबल होती है उसे रोक पाना सम्भव नहीं है। 'अपने-अपने पिंजरे' का नाम यदि दर्द अपना-अपना रखा जाता तो शायद इसकी चोट और गहरी होती। लेकिन कोई बात नहीं अपने जीवन का दर्द जब सबके जीवन का दर्द बन जाय तो समझना चाहिए कि लेखक का प्रयास सार्थक सिद्ध हुआ। पूरी आत्मकथा को यदि ध्यान से देखा जाय तो पता लगता है कि दलित समाज जिसने सदियों से समाज की सेवा की उसे बदले में सिवाय अन्याय, अत्याचार, अपमान, घुटन, शोषण आदि के क्या मिला? कहना न होगा कि दलितों को यदि स्वच्छन्दता पूर्वक आगे बढ़ने का मौका दिया गया होता तो आज देश की दशा और दिशा कुछ और ही होती। क्योंकि दलितों ने सवर्णों से केवल अपनी प्रतिभा दिखाना का अवसर माँगा है तभी तो समाज को दिखा सकेंगे कि उनके अन्दर कितनी प्रतिभा है। जैसे एक गाने के बोल दलितों की आवाज से मेल खाते हैं—'मौका तो दे मेरी जान फिर उड़ान देखना।

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची**

1. मोहनदास नैमिशराय—'अपने-अपने पिंजरे' (आत्मकथा), पृ०-11 (वाणी प्रकाशन-4695, 21ए दरियागंज, नई दिल्ली।-110002)
2. वही पृ० 11
3. वही पृ० 17
4. वही पृ० 18
5. वही पृ० 19
6. वही पृ० 20
7. वही पृ० 21
8. दिनांक 30.11.2015 हिन्दुस्तान समाचार पत्र—पृ० 01
9. वही पृ०—पृ० 28
10. वही पृ०—पृ० 30
11. वही पृ०—पृ० 34
12. वही पृ०—पृ० 39

13. वही पृ०—पृ० 40
14. वही पृ०—पृ० 42
15. वही पृ०—पृ० 51-52
16. वही पृ०—पृ० 58-59
17. वही पृ०—पृ० 69-70
18. वही पृ०—पृ० 78-79
19. वही पृ०—पृ० 85
20. वही पृ० भाग दो—पृ० 113
21. वही पृ० भाग दो—पृ० 10-11
22. वही पृ० भाग दो—पृ० 13
23. वही पृ० भाग दो—पृ० 14-15
24. वही पृ० भाग दो—पृ० 31-32
25. वही पृ० भाग दो—पृ० 68
26. वही पृ० भाग दो—पृ० 70
27. वही पृ०—139